IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

स्वयं प्रकाश की कहानियों में स्त्री अस्मिता का प्रश्न

नाम- प्रिया अशोक कुमार अग्निहोत्री
वीर नर्मद दक्षिण गुजरात विश्वविद्यालय,सूरत

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में समाज में स्त्री अस्मिता का स्वर सर्वाधिक मुखर हुआ है। किसी का होना तभी सार्थक है जब उसे समाज में स्वीकृति मिले। यह व्यक्ति पुरुष भी हो सकता है और स्त्री भी। परन्तु बुनियादी स्त्री के सवाल हैं। स्त्री के होने का शाब्दिक अर्थ केवल देह में होना नहीं है। जब हम स्त्री अस्मिता की बात करते हैं तो हम उसके विचारों को ग्रहण करने संबंधी भारतीय समाज के उदारवादी दृष्टिकोण की बात करते हैं। क्या हमारे भारतीय समाज में स्त्रियों के विचारों को ग्रहण करने की शक्ति और सामर्थ्य है। अगर यह शक्ति और सामर्थ्य है तो अस्मिता का सवाल पैदा नहीं होता। परंतु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि स्त्रियों के वैचारिक दृष्टिकोण को भारतीय समाज अपनाने को तैयार नहीं है क्योंकि समाज के सभी विधान पुरुषों ने अपने तरीके से और अपने लिए बनाए हैं जिसमें स्त्री मात्र पुरुष के जीवन को आसान बनाने का एक साधन मात्र है। इसी पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री परंपरा या रीति-रिवाजों के नाम पर सदियों से घर की चारदीवारी के भीतर कैद रही उसने जब कभी इस सीमा को लांघने की कोशिश की या तो उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया गयी या फिर जिम्मेदारियों का हवाला देकर वापस नए सिरे से, नए नियमों में बाँध दिया। पुरुष को अपना नाम चलाने के लिए संतान चाहिए। इसके लिए स्त्री की कोख चाहिए। बच्चा होने के बाद उसे पालने के लिए कोई चाहिए। पुरुष पेटभरा हुआ बच्चा भी स्वयं नहीं पाल सकता क्योंकि इस पूरे क्रम में अपना सबकुछ भूल जाना पड़ता है। इसके लिए स्त्री को माँ के रूप में न जाने किन-किन महान, भारी-भरकम शब्दों से नवाज़कर उसके संपूर्ण अस्तित्व को ठग लिया गया। स्त्री एक अच्छी पत्नी (यहाँ अच्छी की परिभाषा भी पुरुष द्वारा ही रची गई है), अच्छी माँ (वह जो बच्चे के लिए अपने शरीर से लेकर अपनी तमाम इच्छाओं को दरकिनार कर दे,यदि वह कहीं थोड़ा भी अपने लिए सोचती है तो वह अच्छी माँ भी नहीं है) बनने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानने लगती है। जबकि पुरुष के जीवन में पिता बनने से कोई खास परिवर्तन नहीं होता। घर चलाने, वंश चलाने और परिवार चलाने की पूरी जिम्मेदारी स्त्रियों को न चाहते हुए भी उठानी पड़ती है और ऐसे में वह स्त्री जब अपने विचार स्वतंत्र रूप से इस समाज में रखती है तो उसे पूरी तरह से नकार दिया जाता है और यहाँ से अस्मिता का सवाल पूरी तरह से खड़ा हो जाता है। पढ़ी-लिखी स्त्री हो अथवा निरक्षर स्त्री, शहरी स्त्री हो अथवा ग्रामीण स्त्री किसी भी वर्ग या जाति की स्त्री हो अथवा किसी भी स्तर या समाज की स्त्री अपनी अस्मिता के लिए पुरुषवादी सत्ता से सीधा टकराने को तैयार हो जाती है। ऐसे में यह संघर्ष लाजमी है जब स्त्रियों के विचारों को पुरुष समाज अस्वीकृत कर देता है, तब वहाँ अस्मिता संबंधी सवाल स्वाभाविक रूप से खड़ा हो

जाता है। हम इस लेख में अस्मिता के मूल संदर्भ को पकड़ने की कोशिश करेंगे और यह देखने की कोशिश करेंगे कि भारतीय कथा, साहित्य और विशेष रूप से हिंदी के 20 वीं शताब्दी के अंतिम दशक में रखी गई कहानियों में स्त्री की अस्मिता को किन वैचारिक पहलुओं पर कसने की कोशिश की गई है। फिर चाहे वह भूमंडलीकरण से उपजी हुई स्त्री का स्वर हो या परंपरा से विद्रोह करने वाली स्त्री का स्वर।

अस्सी के दशक के सर्वाधिक चर्चित हिंदी कथाकारों में स्वयं प्रकाश का नाम लिया जाता है। उनकी कहानियों के विविध पक्ष हैं परंतु उनमें से स्त्री पक्ष मेरी समझ में सबसे अधिक प्रभावित करने वाला पक्ष है। अपने समकालीन कथाकारों में उनकी कहानियों के स्त्री पात्र भारतीय समाज की मौलिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को आवाज देते हैं। इसलिए यह विमर्शवादी कहानियों के केंद्र से बाहर हैं। परंतु इन कहानियों के पात्र ज़मीनी हकीकत को समझाते हुए पाठक के समक्ष उभरते हैं इसलिए जब पाठक कहानी पढ़कर पुस्तक बंद करता है तो उसके मानस पटल पर तूफान मंडराने लगता है। शांति से बैठा हुआ पाठक अपने सोचने के तरीके में बुनियादी परिवर्तन करने पर विवश हो जाता है। वह स्वयं को उस कहानी के पात्रों से इस कदर जोड़ लेता है कि उसे उनमें अपना ही प्रतिबिंब नज़र आने लगता है और कहीं न कहीं वह खुद को भी अस्मिता के लिए संघर्ष करता वह पात्र समझ लेता है।

स्वयं प्रकाश के कथा साहित्य में यूँ तो मध्यमवर्गीय समाज के सभी स्वर सुनाई देते हैं परंतु स्त्री स्वर सर्वाधिक मुखरित हुआ है। स्त्री होने के बुनियादी सवाल, घर, परिवार, व्यक्तिगत जीवन के संघर्षों से टकराते हुए अपने भीतर संतोष रखने एवं विविध रंग विस्तार इसके भीतर देखे जा सकते हैं। अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते बहुत-से स्त्री पात्र देखे जा सकते हैं जो मेहनत, लगन, काबिलियत, ईमानदारी, समझदारी जैसे वे तमाम गुण अपने भीतर रखती हैं जो किसी भी संस्थान में काम करने के लिए ज़रूरी होते हैं। वे किसी भी मामले में पुरुषों से कम नहीं। फिर आखिर ऐसा क्या होता है कि उसे समाज द्वारा बनाई व्यवस्था में बार-बार इस बात का एहसास होता है कि आखिर उसके पास ऐसा क्या है जिसे वह अपना कह सके। शादी से पहले सब पिता का, शादी के बाद पति का। तभी तो नितिन से शादी के बाद मंजू सोचने पर विवश होती है कि उसके जैसी लड़की गरम दाल-भात या आरामदेह चप्पल जैसी चीज़ के आगे क्या सपने देखे? लेकिन नितिन का घर? तो क्या यह उसका घर नहीं? 'मंजू फालतू' कहानी की मंजू कोई साधारण लड़की नहीं है वह एक निजी कंपनी के कंप्यूटर विभाग में डाटा एंट्री ऑपरेटर है जिसने उस समय में कंप्यूटर सीखा था जब यह नया-नया आया था और बहुत कम ही लोग इसे चलाना जानते थे। ऐसी लड़की जो अपने पैरों पर खड़ी है उसका अपना कोई घर नहीं, वह पति के घर को ही अपना समझती है। उसे बनाती है। दोनों वहाँ प्यार से रहते हैं पर यह एहसास कि 'लेकिन नितिन का घर? तो क्या यह उसका घर नहीं?' हर लड़की के ज़ेहन में कौंधता है।

मंजू जैसी लड़कियाँ हमारे समाज में कम नहीं हैं जो शादी के बाद घर-परिवार और बच्चे सँभालने में अपना वजूद समाप्त कर देती हैं। इसका एहसास भी उन्हें समय-समय पर होता रहता है पर वह यह सोचकर तसल्ली कर लेती हैं कि कोई बात नहीं बच्चों के लिए मैं नहीं करूँगी तो कौन करेगा? "बच्चा होने के बाद नौकरी छोड़ने का मंजू को अपना इरादा था न मन"[1] पर उसे नौकरी छोड़नी ही पड़ती है। यहाँ अपने अस्तित्व को तो दाँव पर लगा ही दिया जाता है।

नौकरी मंजू ही क्यों छोड़ती है? यह प्रश्न बहुत बड़ा प्रश्न बनकर सामने आता है।

समय बीतने के साथ मंजू की बच्चियाँ, जिनके लिए इसने अपने सारे सपने, अपने वज़ूद को ताक पर रख दिया था वे इसे आउटडेटेड समझने लगती हैं। पर तब तक दुनिया मंजू को पीछे छोड़ बहुत आगे निकल चुकी थी और वो फ़ालतू हो चुकी थी। कह सकते हैं कि इस नए आधुनिक समाज में "स्त्री-जीवन ने नई भूमिकाओं के दर्शन किए हैं और इनके कारण स्त्री-शक्ति में वृद्धि भी हुई है। लेकिन, स्त्री को नई विषमताओं और असुरक्षा का सामना भी करना पड़ा है। कुछ के लिए यदि यह परिवर्तन वरदान के रूप में है, तो बहुतेरों के लिए हानिकारक साबित हुआ है।"[2]

इसी तरह कुछ दूसरे ही अन्दाज़ में 'अगले जनम' कहानी की सुमि भी अपने को ठगा-सा महसूस करती है जब वो एक बच्ची को जन्म देकर अकेली रह जाती है। आज भी हमारे समाज में खूब पढ़-लिखकर निकले लोग भी लड़की के जन्म पर दुखी होते दिखते हैं। सास-ससुर की रुखाई के बाद सुमि भी अपनी बच्ची के मरने की बात कहकर उस नवजात से मुंह मोड़ लेती है। "सुमि ने बच्चे को ध्यान से देखा। सफेद कपड़े में अच्छी तरह लिपटी बच्ची की आँखें बन्द थीं... छोटे-छोटे होंठ... नाक... कान... घने बाल... हाथ पर एक सफेद टेप जिस पर नम्बर लिखा था।

"मर जा!" सुमि ने कहा और दूसरी तरफ गरदन घुमा ली। उसकी आँखों से टप टप आँसू बहने लगे।"[3] यह उसकी पीड़ा की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है जो इन शब्दों में सामने आती है।

प्रतिस्पर्धा के दौर में हर कोई प्रथम स्थान पर रहना चाहता है और यह कोई नई बात नहीं। परंतु जब हम इसे स्त्री-पुरूष के बीच देखते हैं तो इसका अर्थ और प्रभाव दोनों बहुत ही गहरे दिखाई देते हैं। 'अशोक और रेणु की असली कहानी' में अशोक का बैडमिंटन में हार जाना कोई बड़ी बात नहीं थी परंतु वह अपनी पत्नी रेणु से हार जाता है। यह हार उसके लिए सामान्य नहीं होती। पुरुषवादी समाज में कोई मर्द किसी भी हालात में अपनी पत्नी से किसी भी प्रतिस्पर्धा में हार जाए यह बहुत बड़ी बात है। स्वयं प्रकाश इस कहानी के माध्यम से न केवल सामंती सोच पर अपनी कलम चलाते हैं बल्कि सृष्टि के अपरिभाषित परंतु सर्व-स्वीकृत नियम को कहानी के अंत में ला खड़ा करते हैं कि स्त्री चाहे वह पुरूष की तुलना में कितनी भी काबिल क्यों न हो उसे अपनी काबिलियत दिखाने का मौका नहीं मिलना चाहिए। खेल-खेल में एक, दो और तीन बार हारने का बाद अशोक का बैडमिंटन फेंक कर चले जाना भारतीय समाज में पल रही मर्दवादी मानसिकता को प्रदर्शित करने के लिए काफी है। हमें भारतीय सिनेमा जगत से लेकर घर-घर तक ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जहाँ पत्नी या साथ काम करनेवाली महिला से पीछे रहना पुरुषवर्ग को गवारा नहीं होता परंतु हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ पति की तरक्की पर पत्नी खुश न दिखती हो।

स्वयं प्रकाश की कई कहानियों में स्त्रियाँ सीध-सीधे अपने अस्तित्व के लिए चिंतित नहीं दिखतीं परंतु उनकी जो सोच दिखती है वह और भी अधिक परेशान करती है कि आखिर क्या कारण होंगे कि ये लड़कियाँ या स्त्रियाँ वर्षों पुराने परंपरागत खोल के भीतर ही रहने को तैयार दिखती हैं, उनके पास आत्महत्या जैसा विकल्प अभी भी मौजूद है जबकि वे चाहें तो सड़े-गले, बदबूदार माहौल से बाहर निकलकर अपनी नयी दुनिया बना-बसा सकती हैं जहाँ उन्हें किसी के आसरे-सहारे की ज़रूरत महसूस ही नहीं होगी।

लेकिन यह साहस आए कहाँ से? और कैसे? आत्मनिर्भर होने के लिए निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने की आवश्यक्ता होती है। अगर उस शक्ति का विरोध घर में हो तो पहली लड़ाई घर से ही होनी चाहिए परंतु वहाँ स्वयं प्रकाश ने प्रेमचंद के आदर्शवाद को नहीं चुना। वे तो बस सजग निगाह से अपने समाज को कलमबद्ध करते हैं। भूमंडलीकरण ने पोशाक को तो बदला लेकिन सोचने के तरीके में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है जबकि भूमंडलीकरण के दौर में नयी और सबके विकास को महत्त्व देने वाली सोच की जरूरत है। यह स्वयं प्रकाश की कहानियों का मूल स्वर है। इस नयी दुनिया में पति-पत्नी, बच्चे सब अपने-अपने वज़ूद के साथ, एक-दूसरे का सम्मान करते हुए रहेंगे, जहाँ किसी एक का अस्तित्व या तरक्की किसी दूसरे की अस्मिता या अहं पर चोट नहीं करे। यह मामला सिर्फ और सिर्फ सोच का है। स्वयं प्रकाश भी शायद इस सामाजिक संतुलन की उम्मीद में कहानियों को ऐसे मोड़ पर समाप्त कर देते हैं जहाँ से पाठक खुद आगे की राह तय करे और समाज के विकास में अपना योगदान देने वाले हरेक वर्ग के संघर्ष को परखते हुए उसके साथ न्याय करे।

संदर्भ-

1. छब्बीस कहानियाँ,स्वयं प्रकाश,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ-206
2. बाजार के बीच बाजार के खिलाफ: भूमंडलीकरण और स्त्री के प्रश्न, वाणी प्रकाशन प्रभा खेतान कवर पृष्ठ पिछला
3. छब्बीस कहानियाँ,स्वयं प्रकाश,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ-201